पंचम अंक 2017

ISSN 2348 - 9944

सनातनी

संस्कृत विभाग
राँची विश्वविद्यालय, राँची

Scanned with CamScanner

अभिराजयशोभूषणं में अभिनवगुप्त के उद्धरण

अभिनवगुप्त का समय भारतीय प्रज्ञा के समुल्लास का शिखरकाल था । कुछ सहस्र वर्षों की शास्त्रचिन्तन की सम्पन्न परम्पराएँ अपनी परिणतियों पर पहुँच गई थी । भारतीय वसुन्धरा के शीर्ष पर मुकुटमणि की तरह चमकता हुआ काश्मीर प्रान्त । काश्मीर ऋषियों की साधनास्थली रही है । भरतमुनि ने इसी प्रान्त के आस-पास नाट्यशास्त्र रचा व नाट्यप्रयोग किए । पर भरत के बहुत पहले यहाँ कश्यप ऋषि रहे होंगे, जिनके नाम पर काश्मीर को काश्यपी या कश्यपपुत्री प्राचीन साहित्य में कहा गया है । कश्यप ऋषि पिंगल (छन्दःशास्त्र) तथा नाट्यशास्त्र के मर्मज्ञ थे । अग्निपुराण (४/२२) में छन्दः शास्त्र के सम्बन्ध में उनका मत उद्धृत किया गया है । अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में उनकी ७५ कारिकाएँ उद्धृत की हैं । काव्यादर्श की हृदयंगमा टीका में काव्यशास्त्र के आचार्यों में उनका परिगणन किया गया है । इन्हीं काश्यप के आश्रम में राजा दुष्यन्त के द्वारा तिरस्कृत शकुन्तला पाँच वर्ष तक रही, यही वह स्थल है जिस पर गेटे के शब्दों में धरती और स्वर्ग का मिलन हुआ है । यहाँ शास्त्र परम्परा ने कुछ अद्वितीय और विलक्षण रूप पाया । बादरायण के ब्रह्मसूत्र और उस पर वेदान्त के आचार्यों के द्वारा किए गए विचार और विस्तार सारे भारत में मान्य हुआ, पर काश्मीर में उसके स्थान पर शैवाद्वैत फला फूला ।

शैवदर्शन व शैवागमनों की परम्परा इसी धरती पर फली-फूली । प्रत्यभिज्ञा-दर्शन को हिमालय के शिखरों के समक्ष ऊँचाई यहाँ मिली । वसुगुप्त, सोमानन्द, उत्पल, राजनक, रत्नकण्ठ, भास्कर, रामकण्ठ, क्षेमराज, भट्ट वामदेव, कल्लट, सुभट, जयरथ– ये सब और भी शैवदर्शन के महान् आचार्य कश्मीर ने विश्व को दिए । बौद्ध परम्पराओं के कारण चीन में कश्मीर का संबंध ईसापूर्व की शताब्दियों से लगा कर मध्य काल तक बना रहा । चीन के राजाओं ने अपने दूत जहाँ भेजे, धर्म प्रचार के कार्य में काश्मीर के बौद्ध साधकों ज्ञानियों का सहयोग लिया । कुमारजीव चीन से यहाँ अध्ययन करने आए – ऐसी अनुश्रुति मिलती है । हेनसांग कश्मीर में दो वर्ष रहा । वह विक्रमादित्य (५१२ ई.) के उत्तराधिकारी हालादित्य के समय यहाँ रहा होगा ऐसा अनुमान होता है । धर्मोत्तराचार्य शितिकण्ठ, वरदराज आदि अनेक धर्माचार्यों की साधना स्थली कश्मीर है ।

अभिनवगुप्तस्य कृतिः सेयं यस्योदिता गुरुभिराख्या ।[1]

अभिनवगुप्त को विद्याध्ययन का बडा व्यसन था । इनके समय में कश्मीर के आस-पास जितने प्रसिद्ध विद्वान् थे उन सबके सामने जाकर इन्होनें विद्या का अध्ययन, शास्त्र के विशेषज्ञ के रूप में जिस विद्वान् की उस समय प्रसिद्धि भी उस शास्त्र का अध्ययन विशिष्ट विद्वान् के पास जाकर किया था । इसलिए इनके भिन्न-भिन्न शास्त्रों की सूची निम्नलिखित प्रकार है –

१.	नरसिंहगुप्त (अभिनवगुप्त के पिता)	व्याकरणशास्त्र के गुरु
२.	वामनाथ	द्वैताद्वैततन्त्र के गुरु
३.	भूतिराजतनय	द्वैतावादी शैवसम्प्रदाय के गुरु
४.	लक्ष्मणगुप्त	प्रत्यभिज्ञा क्रम
५.	भट्ट इन्दुराज	ध्वनिसिद्धान्त के गुरु
६.	भूतिराज	ब्रह्मविद्या के गुरु
७.	भट्टतोत	नाट्यशास्त्र के गुरु

तन्त्रालोक में वे पिता के लिए कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए कहते हैं— ''पिता स शब्दगहने कृतसम्प्रवेशः ।''[2] उनके गुरुओं में इन्दुराज संस्कृत के श्रेष्ठ कवि तथा काव्यशास्त्र के बड़े आचार्य थे । तन्त्रालोक के आरम्भ में ही उन्होने अपने को 'भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवास' कहा है । नाट्यशास्त्र का अध्ययन उन्होंने भट्टतोत से किया था और तोत के ग्रन्थ का एक बड़ा अंश अभिनवगुप्त के द्वारा अपनी अभिनवभारती में उनके ग्रन्थ से दिए गए उद्धरणों से ही पुनर्विन्यस्त किया जा सकता है । भट्टतोत ने काव्यकौतुक नाम के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की थी । काव्यकौतुक काव्यशास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रन्थ

प्रो. अर्चना दुवे
श्रीसोमनाथ संस्कृत विश्वविद्यालय
राजेन्द्र भुवन रोड़, वेरावल,
जिला गीर सोमनाथ, गुजरात ३६२२६५
मोबाइल नं. ०९५५८८७९८२१

Scanned with CamScanner

था, इस पर आचार्य अभिनवगुप्त ने विवरण नाम से टीका लिखी थी । काव्यकौतुक और विवरण दोनों ही अब लुप्त है ।

अभिनवगुप्त की कतिपय रचनाओं से उनके रचनाकाल का भी पता चलता है । इसमें 'क्रमस्तोत्र' का रचनाकाल ९९०-९९ ई. है, 'भैरवस्तोत्र' का ९९२-९३ ई. तथा 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' का प्रणयन १००४-१५ ई. के आस-पास हुआ । इन सब उल्लेखों के आधार पर अभिनवगुप्त का समय ९५० ई. से १०२० ई. के बीच का माना जाता है । अर्थात दशम शताब्दी का अन्तिम चरण तथा ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में था ।

अभिनवगुप्त ने एक वर्णना अद्भुतरस व्याख्या चित्रकाव्य की दी है । विस्मय या कौतुक जगाता है, अतएव विचित्रता या कौतुकमय होने से चित्रकाव्य कहा गया । अथवा अन्य काव्य के अनुकरण के कारण चित्र कहा गया है, क्योंकि चित्र या तस्वीर की रचना किसी के अनुकरण (नकल) के द्वारा ही होती है । चित्रमिति विस्मयकृत्त्वादिनयात् न तु सहृदयाभिमतीय-चमत्कारसारताः व्यङ्ग्यमर्थमित्यर्थः । काव्यानुकारित्वाद्वा चित्रम् आलेखमात्रात्वा, कला-मात्रात्वा ।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।।[1]

लावण्य के समान है यह व्यङ्ग्यार्थ । जैसा कि ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है– प्रतीयमान अर्थ तो महाकवियों की वाणी में विद्यमान कोई विलक्षण ही वस्तु तत्त्व है जो अंगनाओं में (विद्यमान उनके) प्रसिद्ध (प्रत्यक्ष दिखने वाले आँख, कान, नासा, मुखादि) अंगों से (सर्वथा) अतिरिक्त लावण्य तत्त्व की भाँति प्रतिभासित होता है । तो फिर जैसे स्त्री के शरीर में अंग-सौष्ठव (सौन्दर्य) से पृथक् दिखाई पड़ने वाले लावण्य की अनुभूति के लिए भी सहृदयतामात्र की अपेक्षा होती है, न पुनः (सौन्दर्य परखने वाली) दृष्टि की ठीक उसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ की भी अनुभूति के लिए सहृदयता मात्र की अपेक्षा होती है न कि लक्षक-शास्त्र काव्यादि के परिशीलन से प्राप्त पाण्डित्य की । व्यङ्ग्यार्थ तो केवल अभिव्यक्त होता है वर्ण के द्वारा प्रकाश्यमान मिट्टी की गन्ध के समान ।

वह सहृदयता क्या है ? इस संदर्भ में महामाहेश्वर अभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं– काव्यानुशीलन के अभ्यासवश मनरूपी दर्पण के निर्मल होने पर जिन्हें वर्णनीय पात्रों के साथ तन्मय हो जाने की योग्यता (क्षमता) प्राप्त हो जाती है, उन पात्रों के हृदय से संवाद (तादात्म्य) स्थापित करने वाले वे ही सहृदय हैं ।[2] काव्य की लोकोत्तरता व्यङ्ग्यार्थ से ही सिद्ध होती है न वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से जैसे कि इस पद्य में ।

आदाय मांसमखिलं स्तवकर्कशत्वान्मा मुञ्च वागुरिक! याहि कुरु प्रसादम् ।
अद्यापि ग्रासकवलग्रसनाऽनभिज्ञो मन्मार्गवीक्षणपरस्तनयो मदीयः ।।

गद्य काव्य के संदर्भ में कथा के प्रकार में अभिनवगुप्त के मत को मिश्र ने उद्धृत किया है ।

परिकथादिविषयेऽप्याह महामाहेश्वरः - एकं च धर्मादिपुरुषार्थमुद्दिश्य प्रकार-वैचित्र्येणाऽनन्तवृत्तान्तवर्णनप्रकारा परिकथा । एकदेशवर्णना खण्डकथा । समस्त-फलान्तेतिवृत्तवर्णना सकलकथेति ।[3]

काव्य-प्रभेदों का विवरण प्रस्तुत करते हुए ध्वनिकार ने जो कहा- क्योंकि काव्य के भेद-प्रभेद होते हैं– मुक्तक, जो संस्कृत प्राकृत एवं अपभ्रंश में निबद्ध होते हैं । सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक, पर्यायबन्ध, परिकथा, सकलकथा, खण्डकथा, सर्गबन्ध, अभिनेयार्थ आख्यायिका तथा कथा एवं इसी प्रकार के अन्यभेद । इनके आश्रय से भी संघटना वैशिष्ट्य से संवलित हो जाती है ।[4]

पर्यायबन्ध कुलक एवं प्रबन्ध के मध्यवर्ती काव्य को कहते हैं– वसन्तवर्णनादि (लम्बे) संदर्भों को । जैसा कि आचार्य अभिनवगुप्त ने लोचनटीका में लिखा है– अवान्तर (अन्यान्य) क्रियाओं की समाप्ति हो जाने पर भी जो वसन्तवर्णनादि एकमात्र संदर्भ के वर्णन से प्रवृत्त होता है; उसे पर्यायबन्ध कहा जाता है । परिकथा आदि के विषय में भी महामाहेश्वर (अभिनवगुप्त) ने कहा है– धर्म आदि किसी एक ही पुरुषार्थ को उद्देश्य बनाकर, जब नाना प्रकार से अनन्त वृत्तान्तों का वर्णन किया जाये तो उस पद्धति को परिकथा कहते हैं । एकदेशीय (आंशिक खण्डविशेष) वर्णना को खण्डकथा कहते हैं । सम्पूर्ण फलावाप्ति से समाप्त होने वाले इतिवृत्त के वर्णन से युक्त कृति को सकलकथा कहते हैं ।

एकमेव समुद्दिश्य पुरुषार्थं प्रवर्तिताः ।
याश्च प्रकारवैचित्र्यैस्ता वै परिकथाः स्मृताः ।।[5]

पद्य काव्य के संदर्भ में अभिनवगुप्त के मत इस प्रकार है - युग्मक आदि के संदर्भ की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त (जो इस प्रकार है) दो पद्यों द्वारा (समन्वित रूप से) क्रिया की समाप्ति होने पर सन्दानितक (?) होता है । तीन से विशेषक, चार से कलापक तथा पाँच आदि से कुलक होता है ।[6]

Scanned with CamScanner

अभिनवगुप्तपाद तो मुक्तक (पद्य) को प्रन्धकाव्य के मध्य में भी स्थित स्वीकार करते हैं ।[9] जैसा कि लोचनटीका में उन्होंने कहा है– मुक्त का अर्थ है दूसरे (पद्य) द्वारा आलिङ्गित न होना । मुक्त पद्य ही मुक्तक है कन् प्रत्यय जुड़ने के कारण । इसलिए स्वतंत्रतापूर्वक परिसमाप्त होने वाला, निजेतर अर्थ की आकांक्षा न करने वाला (अर्थात् अपने ही अभिप्राय में पर्यवसित) तथा प्रबन्ध काव्य के बीच में (भी) आने वाला मुक्त कहा जाता है ।[10]

जैसा कि उन्होंने आगे पुनः और स्पष्टता के साथ कहा है– प्रबन्धकाव्यों (के बीच) में भी मुक्तक का सद्भाव होता है । पूर्व और पर संदर्भों से निरपेक्ष रहते हुए भी जिसके द्वारा रसचवर्णा की जाती है वही है मुक्तक । जैसे प्रणयकुपित तुम्हें चित्रित कर इत्यादि (उत्तरमेघ का) ।[11] **युग्मकादिविषयं विशदयत्यभिनवगुप्तः - द्वाभ्यां क्रियासमाप्तौ सन्दानितकम् । त्रिभिर्विशेषकम् । चतुर्भिः कलापकम् पञ्चप्रभृतिभिः कुलकम् ।**

दृश्य एवं श्रव्य प्रकारों के माध्यम से सर्वप्रथम काव्य दो प्रकार का होता है । अभि का अर्थ है– समक्ष, आँखों के सामने । वहाँ ले आये, पहुँचा दे । प्राचीन कथावस्तु को जो उसे अभिनय कहते है, ऐसा मन्तव्य है अभिनवगुप्तपादाचार्य का (नाट्यशास्त्र की टीक) अभिनवभारती में । अभिनय के माध्यम से ही, प्राचीन (त्रेतायुगीन) होते हुए भी रामादि पात्र साक्षात् प्रत्यक्षीकृत हो जाते हैं ।[12]

जो प्राचीन कथावस्तु को निस्संदेह समक्ष उपस्थित कर दे वही अभिनय कहा जाता है तथा विद्वज्जनों द्वारा चार प्रकार का (आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक) बताया गया है ।

अभि समक्षं नयति प्रापयति प्राचीनं कथावस्त्वित्यभिनय इत्यभिनवगुप्तपादा-चार्योऽभिनवभारत्याम् । अनौचित्यादृते नाऽन्यद्रसभङ्गस्य कारणम् । औचित्योपनिवन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ।[13]

आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त द्वारा इतने विस्तार तथा सारगर्भित शब्दावली द्वारा औचित्य तत्त्व के व्याख्यात किये जाने के बावजूद भी क्षेमेन्द्र उसकी काव्यात्मता सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं, हन्त ! यह आचार्य प्रवर का साहस ही है ! ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य आनन्दवर्धन के प्रति अत्यन्त श्रद्धा रखने वाले अपने साहित्यगुरु अभिनवगुप्तपादाचार्य के मन्तव्य को भी वह भलीभाँति नहीं समझ पाये जिन्होंने कि स्पष्ट शब्दों में कहा था– रस तथा भावादि को छोड़ औचित्य-निवन्धन और कोई वस्तु नहीं है ।

रीति आदि को काव्यात्मा बताने वाले लोग भी खड्गलक्षणन्यायेन (अर्थात् जबरदस्ती) अपना सिद्धान्त समझाना चाहते हैं । यद्यपि अपने प्रयास की व्यर्थता को वे स्वयं भी जानते हैं भली भाँति ! जैसा कि (इस संदर्भ में महामाहेश्वर अभिनवगुप्तपादाचार्य ने कहा है–

जैसे कि 'तलवार का लक्षण बताता हूँ' ऐसा कह कर कोई (सैनिक) विवरण दे - लम्बाई तथा चौड़ाई में फैलने वाला, लपेटा जा सकने वाला, शरीर को ढँकने वाला, अत्यन्त कोमल, रंग-विरंगे धागों से बुना हुआ, सिमटा तथा फैलने में समर्थ, अच्छेदक (काटने में असमर्थ) तथा सरलता से (स्वर्ग) कट जाने वाला खड्ग मुझे चाहिए और ऐसा कहता हुआ और द्वारा टोक जाये । इस प्रकार का तो वस्त्र होता है मेरे भाई ! खड्ग नहीं । ऐसा समझने के बाद भी वह रट लगाये - नहीं, मुझे तो बस ऐसा ही खड्ग चाहिए । आपकी जिद भी कुछ वैसी ही है (कि हम अभिधा के दीर्घ-दीर्घतर व्यापार से ही व्यङ्ग्यार्थ का बोध कर लेंगे)

लक्ष्य तो प्रसिद्ध (अन्तिम रूप से निर्णीत एवं स्वीकृत) होता है, कल्पित नहीं, यह भाव है ।[14]

लोचनकार तो और अधिक स्पष्ट शब्दों में, दृष्टान्तमुखेन, अलंकार एवं ध्वनि का महान् अन्तर निरूपित करते हैं । उन्हीं के शब्दों में – ''अलंकार एवं ध्वनि में अन्तर मात्र इसलिए नहीं है कि अलंकार वाच्य-वाचक-समाश्रित होते हैं तथा ध्वनि व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव-समाहिता और ये दोनों भाव एक-दूसरे के विरुद्ध हैं । ध्वनि से अलंकारों का तादात्म्य इस दृष्टि से भी संभव नहीं कि स्वामी और भृत्य की भाँति अंगीरूप ध्वनि तथा अंगरूप अलंकारों में मौलिक विरोध है ।''[15]

लोचनकार अभिनवगुप्त भी रीति एवं वृत्ति का (क्रमशः) गुण एवं अलंकार से पार्थक्य अंगीकार नहीं करते- समुचित चित्तवृत्ति के अर्पण में उनका जो एक दूसरे के साथ मिल जाने की क्षमता के कारण, पानकरस के समान मृग-मरिचादि रसों का संविलय-स्वरूप में आ जाना है तथा गौड, वैदर्भ तथा पाञ्चाल क्षेत्रों में प्रयोग-प्राचुर्य की दृष्टि से उनकी जो दीप्त ललित एवं मध्यमकोटिक वर्णनीय विषयता है– उसी को त्रिविध रीति कहा गया है (जैसे) जाति जातिमान् से पृथक् नहीं, समुदाय समुदाय में रहने वालों से पृथक् नहीं है, ठीक उसी प्रकार वृत्तियाँ तथा रीतियाँ भी अलंकारों एवं गुणों से पृथक् नहीं ।[16]

आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त के मन्तव्यों से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि विशिष्ट पदरचना वाली रीति भले ही गुणों की अभिव्यंजिका हो, परन्तु वह रसों की अभिव्यञ्जिका कथमपि नहीं बन सकती ।

अलङ्कारान्तमूलत्वेनाऽतिशयोक्तेवैशिष्ट्यं ध्वनिकारादयोऽपि स्वीकुर्वन्त्येव । तत्रा-ऽनन्दवर्धनः यतः तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रियते ।[17] तेनाऽति-शयोक्तिः सर्वालङ्कार-सामान्यमित्यभिनवगुप्तोऽधिलोचनम् । सर्वत्र एवंविद्य-विषयेऽतिश-योक्तिरेव प्राणत्वेनाऽवतिष्ठते । तां विना प्रायेणाऽलङ्कारत्वायोगात् ।[18] इति मम्मटः ।

Scanned with CamScanner

लक्षेचन टीका में अभिनवगुप्त भी लिखते है– इसका अभिप्राय यह है कि अतिशयोक्ति ही समस्त अलंकारों की जन्मदात्री है ।

इस प्रकार के संदर्भों में सर्वत्र ही, अतिशयोक्ति (मात्र) प्राणतत्त्व के रूप में विद्यमान रहती है । उसके अभाव में प्राय: अलंकार-सद्भाव बन नहीं पाता ।" ऐसा आचार्य मम्मट का कथन है ।

लोचनकार अभिनवगुप्त- वृत्तियों तथा रीतियों का (अलंकार तथा गुण से) व्यतिरिक्तत्व सिद्ध नहीं है । जैसा कि अनुप्रासों (वर्णसाम्यों) की दीप्ति, मसृण तथा मध्यमवर्णनीय उपयोगिता से उनके पृथक्त्व, ललितत्व तथा मध्यम स्वरूप का विवेचन करने के लिए वर्णत्रय के सम्पादनार्थ अनुप्रास व ही तीन जातियों को वृत्ति कहा गया है वृत्ति का अर्थ है– जिसमें अनुप्रास के भेद रहते हों । जैसा कि कहा गया है– इन तीनों ही वृत्तियों में, सम्मान रूप वा व्यञ्जनों के न्यास वाले पृथक्-पृथक् (अर्थात् दीप्त, मसृण एवं कोमल) अनुप्रासों को कविगण प्रयुक्त करते हैं ।

रीति नैव गुणाद्भिन्नां वृत्तिं नाऽलङ्कृतेरपि ।
मन्यते ध्वनिकारोऽसौ लोचनकृत्समर्थित: ।।

ध्वनिकार उन आचार्य आनन्दवर्धन ने तो रीति और गुणों से भिन्न नहीं ही माना है । वृत्ति को भी अलंकार से पृथक् नहीं माना है । लोचनकार अभिनवगुप्त ने इसी मत का समर्थन किया है ।

काव्य हेतु प्रकरण में ध्वन्यालोक की लोचन टीका में अभिनवगुप्त भी काव्य निर्माण के संदर्भ में, प्रतिभा की ही प्रशंसा करते हैं ।

प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माण क्षमा प्रज्ञा ।
तस्या विशेषो रसावेशवैशद्यसौन्दर्य-काव्यनिर्माणक्षमत्वमिति ।[21]

मिश्र भी व्यञ्जनावादी कवि हैं । व्यङ्ग्यार्थ के संदर्भ में सहृदयता के प्रसङ्ग में अभिनवगुप्तपादाचार्य के मत को उद्धृत किया है ।

अर्वाचीन संस्कृत साहित्य का अभिनवकाव्यशास्त्र 'अभिराजयशोभूषणम्'' महामहोपाध्याय राष्ट्रपति सम्मानित अभिराजराजेन्द्रमिश्र द्वारा विरचित ५६७ कारिका, ५५० उदाहरण एवं गद्यवृत्ति समन्वित सभी उदाहरण समकालीन काव्यशास्त्रियों द्वारा सङ्कलित हैं । इससे अभिराजयशोभूषणकार का भगीरथ परिश्रम भी द्योतित है ।

पञ्चोन्मेष में विभक्त परिचयोन्मेष, शीरतत्त्वोन्मेष, आत्मतत्त्वोन्मेष, निर्मिति तत्त्वोन्मेष, तथा प्रकीर्णतत्त्वोन्मेष है ।

प्रकीर्णतत्त्वोन्मेष आद्यन्त मिश्र की मौलिक चिन्तन है । गीति, गलज्जलिका, लोक गीत (Folk Songs) कजरी नक्तक, प्रचरण, स्कन्धहारीय, फाल्गुनिक, चैत्रक, सूत्रगृह आदि के लक्षणोदाहरण दिये गये हैं । राज्यान्तरप्रचलित रङ्गिणी, नारी, गर्वा, पण्डवानी, बाउल आदि गीत वर्णित है ।

लोकप्रियता की धुरि गजल का पारसीभाषा सम्मत संविधानक प्रस्तुत कर उसके विविध रूप सम्यक्तया उपन्यस्त किया गया है ।

मिश्र ने अभिनवगुप्त के लिए महामहेश्वर सम्मान सूचक शब्द का प्रयोग किया है । आद्यन्त काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों में अभिनवगुप्त के मतों से सहमत हैं । उन्होंने आदर के साथ अभिनवगुप्त के मतों को उद्धृत किया है तथा यथोचित तर्कपूर्ण मत-मतान्तरों को उपस्थापित किया है ।

१ तन्त्रालोक, १-५०
२ तन्त्रालोक १२/४१३
३ ध्वन्यालोक, १/१३ पर लोचन, पृ. १०६
४ अभिराज यशोभूषणम्, पृ.७७
५ अभिराजयशोभूषणम्, २३९
६ ध्वन्यालोक ३/७ की वृत्ति ।
७ अभिराजयशोभूषणम्, पृ. २३९, कारिका संख्या १२०
८ ध्वन्यालोक ३/७ की लोचनटीका
९ अभिराजयशोभूषणम्, २१०
१० ध्वन्यालोक ३/७ की लोचनटीका
११ ध्वन्यालोक ३/७ की लोचनटीका
१२ ध्वन्यालोक ३/७ की लोचनटीका
१३ अभिराजयशोभूषणम्, १९९
१४ध्वन्यालोक तृतीयोद्योत: ।
१५ लोचन १/१
१६ लोचन १/१६
१७ लोचनटीका
१८ (ध्वन्यालोक ३/३७ वृत्ति:)
१९ (काव्य २०.१३६ वृत्ति:)
२० काव्यप्रकाश १०-१३६की वृत्ति
२१ अभिराजयशोभूषणम्, पृ. ३४

Scanned with CamScanner

आनन्दवर्धनाचार्यविरचितः "ध्वन्यालोकः के लोचन टीका की विशेषताएँ

आचार्य आनन्दवर्धन की रचना 'ध्वन्यालोक' काव्यशास्त्र का एक ऐसा प्रकाशस्तम्भ है जो एक ओर अतीत के शास्त्रीय सिद्धान्तों का आलोकित कर उन्हें व्याख्यान विन्यस्त करता है। दूसरी ओर समस्त परवर्ती साहित्य–शास्त्र पर अपनी प्रकाश रश्मियाँ विकीर्ण करता है। यह युगान्तरकारी रचना है। आलोचनाशास्त्र को निवीन दिशा प्रदान करता है और शास्त्रीयतत्वों को एक व्यवस्थित रूप देता है। साहित्यशास्त्र में तो इसका उतना ही महत्व है जितना व्याकरण में पाणिनि का और वेदान्त में वेदान्तसूत्रों का। 'इस ग्रत्थराज में भारतीय साहित्य–शास्त्र का यह मूलभूत सिद्धान्त पूर्ण रूप से प्रतिफलित हुआ है कि दृश्यमान जगत् परोक्ष सत्ता का परिचायक है और इसका उपयोग केवल उतना ही है कि उसमें हमें प्रतीयमान परोक्ष सत्ता का प्रतिमास प्राप्त हो जाता है।'[1] अतः जीवन का आनन्द प्राप्त करने के लिए हमें दृश्यमान् जगत् में ही सन्तुष्ट न रहकर उस परोक्ष सत्ता का अनुशीलन करना चाहिये। यही तत्व है जो हृदय को मुक्तवस्ता की ओर उम्मुख करता है। इस प्रकार यदि हम भारतीय साहित्य को ठीक रूप में हृदयंगम करना चाहते हैं तो ध्तन्वालोक का आश्रम अपरिहार्य हो जाता है।

'ध्वन्यालोक' की रचना विक्रम नवम शताब्दी में आनन्दवर्धन ने की थी।'[2] प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता कल्हण ने राजतरंगिणी में लितता है कि काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के सभारत्नों में आनन्दवर्धन भी एक थे।'[3] यह मान्यता दूसरे प्रमाणों से भी सिद्ध हो जाती है। ध्वन्यालोक में कालिदास, पुण्डरीक, वाण, मट्टोद्भट, भामह, मनोरथ, सर्वसेन, सातवाहन, अमस्क और धर्मकीर्ति का नाम आया है तथा मधुमथन विजय, रत्नावली तापस–वत्सराज, हर्षचरित, समाभ्युदय इत्यादि लक्ष्यग्रंथ का उल्लेख किया गया है। उस ग्रन्थ में वामन का भी उल्लेख किया गया है। वामन ने अपने काव्यालंकार सूत्र में शिशुपालवध उत्तर रामचरित तथा कादम्बरी से उदाहरण दिये है। इससे सिद्ध होता है कि वामनाचार्य का समय अश्रमशर्ता का उत्तरार्ध अथवा नवम शताब्दी का पूर्वार्ध है। लोचन इत्यादि ग्रंथों को देखने से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है नवमशताब्दी के अन्तिम चरण में भट्टनायक ने हृदय दर्पण में ध्वन्यालेक का खण्डन किया था। इससे सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन का समय वामन (नवीं शताब्दी का पूर्वार्ध) और भट्टनायक (नवीं शताब्दी का अन्तिम चरण) के बीच के अर्थात् नवम् शताब्दी के मध्यभाग है।[4] यही समय अविन्नवर्मा के राज्यकालका है। अतः राजतरांगिणी का यह कथन सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन काश्मीरी राजा अवन्निवर्मा के सभापण्डित थे।

'ध्वन्यालोक' के दो भाग है– एक कारिकाभाग और दूसरा व्याख्याभाग। व्याख्या में परिकर श्लोक, संग्रह श्लोक और संक्षेप श्लोकों का उपादान किया गया है। व्याख्या भाग के तीन नाम प्राप्त होते हैं– ध्वन्यालोक, सहृदयालोक और काव्यालोक।[5]

'ध्वन्यालोकः' के प्रथम कारिका का विवेचन और विश्लेषण करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ध्वनिकार कोई भिन्न व्यक्ति थे और उन्होंने ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना किसी प्राचीन परम्परा के आधार पर की थी जिसका परिचय आनन्दवर्धन को नहीं था। लोचनकार ने ध्वनिकार और वृत्तिकार के पृथकत्व का अनेकशः निर्देश किया है। इन्होंने कारिकाकार के लिये मूलग्रंथकर और वृत्तिकार के लिये ग्रंथकार शब्द का प्रयोग किया है। केवल इतना ही नहीं अपितु इन्होंने कारिकाओं से अतिरिक्त अर्थ का भी यथास्थान वृत्तिग्रंथ के मौलिक चिन्तन के रूप में निर्देश किया है तथा उसमें कर्तृभेद का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। एक तो अभिनव गुप्त अधिक प्रबुद्ध भिन्नक हैं और आनन्दवर्धन की परम्परा से परिचित भी अधिक हैं। अतः अन्य आचार्यो की अपेक्षा उनका कथन अधिक मान्य है। इससे व्यक्त होता है कि वे दोनों व्यक्ति पृथक्–पृथक् थे।

ध्वन्यालोक की एक प्राचीन टीका चन्द्रिका का उल्लेख लोचन में किया गया है तथा लोचन टीका से ही चन्द्रिकाकार और अभिनवगुप्त का सगोत्र होना भी सिद्ध होता है। किन्तु यह टीका उपलब्ध नहीं होती, ध्न्यालोक पर प्राचीनतम प्रामाणिक टीका लोचन ही है जो कि अभिनवगुप्तादाचार्य की लिखी हुई है। श्री अभिनवगुप्त एक महान् दार्शनिक विद्वान् थे। अतः इन्होंने साहित्यशास्त्र में ग्रंथ लिखकर उसे दार्शनिक स्वरूप दे दिया। यह इतनी महत्वपूर्ण तथा सशक्त टीका है कि हम इसे

डॉ. एन. के. बेरा
एसोसिएट प्रोफेसर, बंगला विभाग
राँची विश्वविद्यालय, राँची
मो. : 9431114351

Scanned with CamScanner

साहित्यशास्त्र का महाभाष्य भलीभाँति कह सकते हैं। जहाँ ध्वन्यालोक के दुरूह स्थानों को पूर्णरूप से स्पष्ट कर यह टीका अपने नाम को सार्थक करता है वहाँ दूसरी और अपनी स्वतंत्र विचारधारा की दृष्टि से यथार्थरूप में मौलिक भी है।[6]

अभिनवगुप्त काश्मीर के एक बहुत बड़े विद्वान थे। कहा जाता है कि आज भी काश्मीर के अनेक ब्राहमण परिवारों में इनकी मूर्ति बनाकर पूजा की जाती है और इनके नाम पर व्रत रखा जाता है। इनके जीवनवृत्त का हमें इन्हीं के ग्रंथों में परिचय प्राप्त होता है। वे वाराहगुरू के पौत्र तथा चुखुल के पुत्र थे। इनके बड़े भाई के नाम था मनोरथ जो स्वयं एक कवि थे। अभिनवगुप्त ने तीन गुरुओं से शिक्षा पाई थी, लोचन टीका में इन्होंने अपने गुरू का नाम लिखा है भट्टेन्दुराज। इन्होंने ध्वन्यालोक इन्हीं गुरु भट्टेन्दुराज के पास पढ़ा था और स्थान–स्थान पर लोचन टीका में बड़े गौरव के साथ उन्होंने अपने गुरू का स्मरण किया है तथा लिखा कि सन्दर्भ का अर्थ हमारे गुरू ने इस प्रकार बतलाया है था।[7]

अभिनवगुप्त के दूसरे विद्यागुरु थे भट्टतौत जिनका उसी रूप में उन्होंने नाट्यशास्त्र की व्याख्या अभिनव भारती, जो कि अच्छिन्न रूप में ही प्राप्त होती है। कहा जाता है उनके गुरु भट्टतौत ने काव्यकौतुक नाम का एक ग्रंथ लिखा था जिस पर इन्होंने एक विवरण लिखा।

'ध्वन्यालोकः' में लोचन–व्याख्या जितनी महत्वपूर्ण है उतना ही अधिक क्लिष्ट भी है। इस पर कोई भी प्रामाणिक व्याख्या अब तक उपलब्ध नहीं होती। ध्वन्यालोक की एक दूसरी आनन्द–दीपिका नामक व्याख्या भी आचार्य विश्वेश्वर जी ने हिन्दी में लिखी थी। यह अधिकतर ध्वन्यालोक का ही अनुवाद था। यद्यपि इसमें स्थान–स्थान पर लोचन के अंशों का भी उपादान किया गया है। किन्तु प्रत्यक्ष व्याख्या न होने के कारण इससे लोचन को पूर्ण रूप से समझने की आशा ही नहीं की जा सकती।

ध्वन्यालोक में चार उद्योत हैं– प्रथम उद्योत में ध्वनि विरोधी सम्भावित पक्षों का उल्लेख कर उसपर पूरा विचार किया गया है। इसी प्रसंग में ध्वनि का स्वरूप बतलाया गया है और यह सिद्ध किया गया है कि ध्वनि ही काव्य का एकमात्र प्रयोजक तत्व है तथा उसकी अर्न्तभाव और कहीं नहीं हो सकता। द्वितीय उद्योत में व्यंग्यार्थ की दृष्टि से ध्वनि भेदों का निरूपण किया गया है, तृतीय उद्योत सबसे बड़ा है। इसके 'व्यंजक' की दृष्टि से ध्वनिभेद किये गये हैं। इसमें रीतियों और वृत्तियों का भी विवेचन किया गया है, चतुर्थ उद्योत में ध्वनि सिद्धान्त की व्यापकता तथा उसके महत्व पर विचार किया गया है।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि–सम्बन्धिनी वृत्ति का नाम आलोक रखा था। उसपर चन्द्रिका नाम की व्याख्या लिखी गई। अभिनवगुप्त ने देखा कि आलोक और चन्द्रिका का अभेद सम्बन्ध तो उपयुक्त हो सकता है, चन्द्रिका के द्वारा आलोक का आनन्द तो लोचन के द्वारा ही लिया जा सकता है। अतः उन्होंने 'ध्वनालोकः' के टीका का नाम लोचन रखा था।

सन्दर्भ–सूची

1. डा. गौरीनाथ शास्त्री – 'संस्कृत साहित्य के इतिहास' पृ–170
2. A. B. Keith - 'A History of Sanskrit Literature' P-88
3. कल्हण – 'राजतरंगिणी'
4. A. Weber - 'A History of Indian Language' P-121
5. डा. रामसागर त्रिपाठी – 'ध्न्यालोकः' पृ.–9
6. श्री अतुल चन्द्रगुप्त – 'काव्यजिज्ञासा' पृ.–18 विश्वभारती, शांति निकेतन
7. डा. रामसागर त्रिपाठी – 'ध्वन्यालोकः' पृ.–61

Scanned with CamScanner